
इकाई 14 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व—अलंकार, रीति और ध्वनि

इकाई की रूपरेखा

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक 'अलंकार' तत्त्व
- 14.3 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक 'रीति' तत्त्व
- 14.4 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक 'ध्वनि' तत्त्व
- 14.5 सारांश
- 14.6 शब्दावली
- 14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 14.8 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक अलंकार तत्त्व को जान सकेंगे ।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक रीति तत्त्व को जान सकेंगे ।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक ध्वनि तत्त्व को जान सकेंगे ।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व में प्रयुक्त तकनीकी शब्दावली से परिचित हो पायेंगे ।

14.1 प्रस्तावना

भारतीय आलोचकों की दृष्टि काव्य के बाह्य उपकरणों को हटाकर अन्तःस्थल तक पहुँची हुई थी। वे केवल बाह्य अलंकार को काव्य का भूषण मानने के लिए तब तक उद्यत नहीं होते थे जब तक उसमें 'सौन्दर्य' की सत्ता नहीं होती थी। यही सौन्दर्य भिन्न-भिन्न अभिधानों से प्रसिद्ध था। चमत्कार, विच्छिति, वैचित्र्य तथा वक्रता इसी सौन्दर्य तत्त्व की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र के अन्तरंग से अपरिचित विद्वान् यह दोषारोपण किया करते हैं कि यह केवल बहिरंग की समीक्षा को ही अपना सर्वस्व मानता है तथा अलंकार जैसे बाहरी अस्थायी शोभातत्त्व को ही काव्य का मुख्य आधायक मानता है परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न है, यह आरोप एकदम मिथ्या तथा निराधार है। यह शास्त्र काव्य की आत्मा के समीक्षण में ही अपनी चरितार्थता मानता है। फलतः यहाँ बहिरंग के साथ अन्तरंग की, शरीर के साथ आत्मा की, पूरी समीक्षा भारतीय आलोचनाशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है इसलिए प्रस्तुत इकाई में सौन्दर्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व अलंकार, रीति, ध्वनि के अन्तर्गत अलंकार तत्त्व, रीति तत्त्व तथा ध्वनि तत्त्व का विवेचन किया जायेगा।

14.2 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक अलंकार तत्त्व

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्यों की ऐसी परम्परा विद्यमान है, जो अलंकारों को काव्य—सौन्दर्य का मूल हेतु स्वीकार करते हुए उसे ही काव्य सर्वस्व उद्घोषित करती है। अलंकार सम्प्रदाय का स्थान रस सम्प्रदाय के बाद आता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई आलंकारिकों का उल्लेख किया है—‘आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमकं यमः, चित्रं चित्रङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, औपम्यौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुत्थः, उभयालंकारिकं कुबेरः।’ (काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय शास्त्र संग्रह का प्रथम परिच्छेद) किन्तु इनमें से किसी की भी कृति उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ही हैं जिनकी कृति उपलब्ध है। अतः भामह को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। भामह ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना है। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य में प्रधान है—‘तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।’ (अलंकार सर्वस्व पृष्ठ 307) रुय्यक का ‘अलंकारसर्वस्व’ अलंकारशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें 65 अर्थालंकारों और तीन शब्दालंकारों का वर्णन है।

‘अलम्’ पूर्वक ‘कृ’ धातु के योग से ‘करण’ या ‘भाव’ अर्थ में ‘घञ्’ प्रत्यय करने पर अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इनमें ‘अलम्’ एक अव्यय शब्द है, जिसका अर्थ योग्य या पर्याप्त है। इस प्रकार अलंकार शब्द से तात्पर्य ऐसे तत्त्व से था, जो पर्याप्त अथवा योग्य बना दे। प्रकारान्तर से ‘अलङ्करोति इति अलंकार’ तथा ‘अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कार’ अतः अलंकार ऐसा तत्त्व है, जो चमत्कार अथवा सौन्दर्य को परिपूर्णता तक पहुँचाते है।

आचार्य भामह ने काव्य में अलंकारों को अंगी रूप में स्वीकार करके रस आदि को उसके अंग रूप में प्रतिपादित किया। भामह के शब्दों में—‘न कान्तमपि निर्भूषं विभातिवनितामुखम्’ अर्थात् जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुये भी भूषण के बिना शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार सुन्दर सरस काव्य की शोभा भी अलंकारों से होती है। अतः भामह ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट किया तथा उसको काव्य का प्राणतत्त्व माना। उन्होंने कहा है कि शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। (काव्यालंकार 1.30)

वाचां वकार्थं शब्दोक्तिरलंकारायकल्पतेः।। (काव्यालंकार 5.60)

उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाय कि हे रावण! तुम सीता को लौटा दो अन्यथा राम तुम्हारा वध कर देंगे तो यह वाक्य काव्य नहीं कहलायेगा। यदि इसे इस प्रकार कहा जाय—

न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।

समये तिष्ठ लंकेश मा बालिपथमन्वगाः।।

अर्थात् हे रावण! जिस मार्ग से बाली मर कर गया है वह मार्ग संकुचित नहीं है इसलिए समय रहते सम्भल जा। बाली के मार्ग का अनुसरण न कर।” इस कथन में एक चमत्कार आ गया है। अतः यह उत्तम काव्य कहलाता है। इस प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए कहा कि वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार सत्ता कदापि सम्भव नहीं—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना ॥ (काव्यालंकार 2.85)

किन्तु वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति भिन्न है—

निमित्ततो वचोयत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारनयाविना ॥ (काव्यालंकार 2/85)

आचार्य दण्डी ने काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्वों को अलंकार कहा है—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते । (काव्यादर्श 21)

ये तत्त्व अनेकविध हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। काव्यगत शोभा के सम्पादक होने से उन्होंने रस आदि का ग्रहण रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत किया, जो की तीन प्रकार हैं—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम् ।

ऊर्जस्विरुदाहंकार युक्तोत्कर्ष न तत्रयम् ॥ काव्यादर्श 2.275

सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग आदि को भी शोभाकर होने के कारण उन्होंने अलंकार माना—

यच्चसन्ध्यंग—प्रत्यङ्ग लक्षणाद्यगमान्तरे ।

व्यावर्णितमिदं चेष्टामलंकारतथैव नः ॥ (काव्यादर्श 2/260)

इस प्रकार दण्डी कहते हैं कि अर्थ से युक्त पदावली यद्यपि काव्य का शरीर है, आत्मा नहीं किन्तु स्त्री का सौन्दर्य तो शरीर पर ही आधारित हैं इसलिये शरीर को अलंकृत रखना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे कुष्ठ का एक भी दाग पूरे शरीर को अस्पृश्य बना देता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का एक भी दोष उपेक्षा करने योग्य नहीं है अलंकार भी तो काव्य का शरीर ही हैं—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन ॥

स्याद् वपुः सुन्दरमपि चित्रेणैकेन दुर्भगम् ।

तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः ॥ (काव्यादर्श)

अग्निपुराणकार ने भी अलंकार के लक्षण के सम्बन्ध में दण्डी का अनुसरण किया—‘काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते’ तथा अलंकार रहित कविता को विधवा के समान माना है—अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती । (अग्निपुराण 343. 12)

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्य वामन, जो रीति को काव्यात्मा रूप में स्वीकार करते हैं, अलंकार को सौन्दर्य रूप में प्रतिपादित करते हैं—काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलङ्कारः । (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.1.2) अर्थात् उनका कथन है कि काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व यदि गुण है, तो उस शोभा को अतिशयित करने वाले अलंकार है—

काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मागुणाः। (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.1)

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.2)

साहित्य में प्रमुख
सौन्दर्यात्मक
तत्त्व—अलंकार, रीति
और ध्वनि

उद्भट ने भी काव्य में अलंकारों की प्रधानता का प्रतिपादन किया था। उन्होंने रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों में रस आदि को समाविष्ट कर दिया। उन्होंने आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ का उपकारक माना—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

वच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।।

(उद्भट—काव्यालंकारसारसंग्रह, 4.6)

आचार्य रुद्रट ने अलंकारों को प्रधानता देते हुए अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' रखा तथा रस आदि का अलंकारों में ही अन्तर्भाव कर लिया—'काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्तिः' (काव्यालंकार 1.2)

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक तथा प्रवर्तकाचार्य कुन्तक ने काव्य परिभाषा देते हुए अलंकार सहित उक्ति को ही काव्य माना। उन्होंने कहा है कि 'जो कथन अलंकृत होता है, उसमें ही काव्यत्व है—

'अलंकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।

तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता।।' (कुन्तक वक्रोक्तिजीवितम् 1.6)

अलंकार प्रस्थान के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकारों की प्रधानता का खंडन सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने किया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस को अंगी तथा अलंकार को अङ्ग रूप में उद्धृत करना चाहिये। काव्य—शरीर रूप शब्द और अर्थ की शोभा में वृद्धि करने वाले इन अलंकारों का प्रयोग रसों के उपकारक रूप में ही किया जाना चाहिये। जिस प्रकार कामिनी के शरीर को कुण्डलादि आभूषण विभूषित करते हैं, उसी प्रकार काव्यगत—अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं—

'तमर्थवलम्बन्ते ये अङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।

अंगाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्यः कटकादिवत्।।' (आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक 2.17)

(आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक 2.17)

आचार्य मम्मट भी अलंकारों को विशेष महत्त्व प्रदान नहीं कहते। वे ठीक ही कहते हैं कि काव्य में अलंकार होने चाहिये किन्तु यदि 'अनलंकृति पुनः क्वापि' कहीं अलंकार न भी हो तो भी उसे अकाव्य नहीं कहा जा सकता है। जैसे—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।' (आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक 2.17)

वाल्मीकि प्रणीत इस आदि काव्य में कोई भी स्पष्ट अलंकार नहीं है फिर भी कोई भी विद्वान् इसे अकाव्य सिद्ध नहीं कर सकता।

आचार्य विश्वनाथ तो स्पष्ट रूप से अलंकारों की उपेक्षा करते हैं। उनके अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है। रस के बिना तो अलंकार भार के ही समान प्रतीत होंगे। उनके अनुसार—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिरस्यात्मा गुणाः शौर्यादिवत्,

दोषाः काण्त्वादिवत् रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः

कटककुण्डलादिवत् अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। रस भाव आदि आत्मा है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण मनुष्य के शौर्य आदि गुणों के सौन्दर्य नष्ट करते हैं। गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी और लाटी रीतियाँ अवयवों की रचना के समान है। अनुप्रासादि अलंकार कटक-कुण्डलादि के समान बाह्य शोभाधायक हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि अलंकार केवल काव्य में उत्कर्ष का आधान करते हैं स्वरूप का आधान नहीं करते। ऐसा अलंकार सम्प्रदाय के विरोधियों का अभिप्राय है।

समीक्षा—

जब सहृदय रसमर्मज्ञ विद्वज्जन आचार्य भामह की **'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'** इस उक्ति पर विचार करते हैं तो सहसा इसकी निर्दुष्टता से सहमत नहीं हो पाते। तथ्य यह है कि वनिता का मुख यदि स्वाभाविक सुन्दर है तो आभूषणों के होने और न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। अव्याज मनोहर शरीर को अलंकारों की अपेक्षा नहीं होती। अलंकारों से सौन्दर्य में वृद्धि का सिद्धांत उनका हो सकता है जो सौन्दर्य को एकान्त वस्तुनिष्ठ मानते हैं। सौन्दर्य कभी एकान्तरूप से वस्तुनिष्ठ नहीं होता। सौन्दर्य प्रायः आत्मनिष्ठ होता है। स्वभाव से सुन्दर वनिता के मुख से अलंकार ही अलंकृत होते हैं मुख नहीं। यह बात स्वयं सौन्दर्य के पारखी महाकवि कालिदास कह रहे हैं—**किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्** अर्थात् सुन्दर आकृति के लिये भला क्या वस्तु अलंकार नहीं हो जाती।

लोकोत्तर सुन्दरी शकुन्तला के शरीर पर तो वल्कल भी आभूषण बन गये थे। प्रायः देखा जाता है कि स्वभाव सुन्दर कामिनी के शरीर पर तो बलात् आरोपित किये गये आभूषण उसके रूप को विकृत ही करते हैं। क्योंकि कामिनी के आभूषणों से उसके कुल, जाति और वैभव के उत्कर्ष का तो ज्ञान हो सकता है किन्तु उसके सौन्दर्य में किञ्चिन्मात्र ही वृद्धि होती है सर्वात्मना नहीं। इसी प्रकार काव्य में निहित अलंकारों से कवि की कल्पना विद्धता बहुश्रुतता और रचना कौशल का तो पता चलता है, किन्तु काव्य का सौन्दर्य उसमें निहित अनुभूति की गहनता और रस की आस्वाद्यता में होता है केवल अलंकारों के होने से नहीं।

कहने का तात्पर्य है कि कमल यदि मनोहर है तो शैवाल से घिरा हो या काँटों से, इससे क्या होता है। छोटे शिशु की मुस्कान का सौन्दर्य अलंकारों से नहीं बढ़ता। सत्पुरुष के चरित्र का सौन्दर्य सुवर्ण और रत्नों से नहीं बढ़ता। चन्द्रमा की कला की आह्लादकता उसमें निहित कलंक से कम नहीं होती।

सौन्दर्य तो बस सौन्दर्य ही है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह अलंकारों के समान दृश्य नहीं होता। वह तो अनुभव करने योग्य होता है प्रतीयमान होता है। प्रतीयमान तो कुछ और ही है। उस और कुछ की व्याख्या शब्दों से नहीं हो सकती है। आनन्दवर्धन कहते हैं—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यभिवाङ्गनासु।।'

(ध्वन्यालोक 1/4)

क्या कोई अंगना के लावण्य की व्याख्या शब्दों से कर सकता है? लावण्य रहता तो उसके अंगों में ही है किन्तु फिर भी वह अंगों का धर्म नहीं है। अलंकारों के बिना भी वह दूर से ही झलकता है क्योंकि वह प्रतीयमान है। सहृदयों को ही उसकी प्रतीति

होती है। काव्य का सौन्दर्य भी प्रतीयमान है। वह तो महाकवियों की वाणी में रहता है
अवश्य किन्तु वह अन्य ही है। उसके आगे अलंकार तुच्छ हैं—

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः, तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।।

(अभिज्ञानषाकुन्तलम्)

इस काव्य में कवि की कल्पना का जो वैभव विद्यमान है और शकुन्तला की जो
अप्रतिम कोमलता ध्वनित हो रही है क्या वह किसी अलंकार की अपेक्षा रखती है?
इसलिये अलंकार को काव्य का प्राण कहना और अलंकारहीन को अकाव्य कहना
उचित प्रतीत नहीं होता। अतः अलंकारों को शोभावर्धक मानना ही उचित है।
काव्यजीवित कहना दुराग्रह ही कहा जायेगा।

इस प्रकार अलंकार को काव्यगत चारुत्व का हेतु अथवा शोभा के अर्थात् सौन्दर्य
अतिशय का आधायक कहा गया है। वास्तव में उक्ति की विचित्रता ही अलंकार होती
है जो कि कवि की प्रतिभा से उत्थित होती है। यह उक्ति जब काव्यगत चमत्कार
उत्पन्न करती है तो वही अलंकार होता है।

14.3 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक रीति तत्त्व

रीति शब्द 'री' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका
व्युत्पत्तिपरक अर्थ मार्ग, शैली, विधा है। प्रकारान्तर से इसे पन्थ, वीथी, प्रणाली एवं
पद्धति भी कहा गया है। रीति की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य भोज ने कहा है कि
वैदर्भी आदि मार्ग काव्य के मार्ग कहे गये हैं। रीति शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्गतौ'
(चलना) गत्यर्थक 'रीङ्' धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है—'रीङ्गताविति धातौ
सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते' (भोज सरस्वती कण्ठाभरण 3.51)

साहित्यिक क्षेत्र में रीति का आशय कवि अथवा लेखक की विशिष्ट लेखन शैली में
होता है। 'रीति' को पारिभाषिक रूप देने का श्रेय आचार्य वामन के अतिरिक्त अन्य
किसी आचार्य को नहीं दिया जा सकता। पदों की विशिष्ट संघटना ही रीति होती है।
इस प्रकार वामन के शब्दों में रीति ही काव्य की आत्मा है—

रीतिरात्मा काव्यस्य। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.6)

विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.7)

विशेषो गुणात्मा। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.8)

यहाँ पर विशिष्ट से उनका तात्पर्य गुणयुक्तता से था, जो गुण शब्द और अर्थ के
शोभाकारक धर्म है—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।'

(वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.1)

वामन कृत उक्त परिभाषा में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगत होते हैं—प्रथम, विशिष्ट पद
रचना ही रीति है तथा द्वितीय यह कि वह शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती
है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऐसी विशिष्ट पद रचना, जिसमें शब्द और
अर्थगत चमत्कार सन्निवेश हो, 'रीति' कहलाती है। उनका रीति—विभाजन प्रादेशिक
सीमाओं पर अवलम्बित न होकर गुणो पर आश्रित था। उन्होंने तीन रीतियों वैदर्भी,
गौड़ी तथा पाञ्चाली का विवेचन किया।

गौड़ी रीति— गौड़ी रीति की परिभाषा देते हुए वामन कहते हैं—‘ओजः कान्तिमती गौड़ीया’ अर्थात् ओज और कान्ति गुणों से युक्त, समास युक्त पदावली गौड़ी रीति है। इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है। प्रायः वीर रस में इसका प्रयोग होता है।

समस्तात्युद्भट्पदामोजः कान्ति गुणान्विताम् ।
गौडीयमिति गायन्ति रीतिं रीति—विचक्षणाः ॥
(वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.12)

गौड़ी का उदाहरण इस प्रकार है—

दोर्दण्डांचित चन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यतः,
टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमित ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥
(महावीरचरितम् 1.54)

सीता स्वयंम्बर के समय शिवधनुष के टूटने के समय श्रीराम के बाहुबल को लक्ष्य करके लक्ष्मण की यह उक्ति है—हाथ में उठाये हुए शिव धनुष के टूटने से उत्पन्न तथा श्रीराम के बालचरित की प्रस्तावना का उद्घोष करने वाले टंकार की ध्वनि, अकस्मात् कम्पित पृथ्वी और आकाश के कपालों में सीमित ब्रह्माण्ड के अन्दर भ्रमणशील अतिशय भयंकर (ध्वनि) क्यों अभी भी शान्त नहीं हो रही है। उक्त पद में समासयुक्त तथा उत्कट पदों की बहुलता होने से गौड़ी रीति है।

वैदर्भी रीति— वैदर्भी रीति गौड़ी रीति के विपरीत समस्त गुणों से युक्त, दोषों से पूर्णतः मुक्त तथा वीणा के स्वरों के समान मधुर रीति वैदर्भी है—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपंचीस्वरसोभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥
(वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.11)

विदर्भ देश में प्रचलित होने के कारण इस रीति को वैदर्भी कहा जाता है। प्राचीनकाल में जिसे विदर्भ कहा जाता था वह महाराष्ट्र और राजस्थान का कुछ अंश मिलाकर बनता था। आज इसे बरार कहा जाता है। वैदर्भी रीति के श्रेष्ठतम कवि कालिदास हैं। उनका एक उदाहरण देखिये—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं श्रृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्,
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।

विस्रब्धं कुरुतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले,
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद् धनुः ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2.6)

शकुन्तला के लावण्य में आसक्त राजा दुष्यन्त शिकार खेलने से विरक्त होकर कह रहा है कि अब भैसे तालाब के जल में सींगों से जल को ताडित करते हुए प्रवेश करें। छाया में समूह बनाकर मृगों का झुण्ड आराम से जुगाली करे। सुअरों का समुदाय निश्चिन्त होकर नागरमोथा की जड़ को उखाड़े और मेरा यह धनुष शिथिल प्रत्यंचा

वाला होकर विश्राम करे। यहाँ पर समस्त श्लोक में प्रसाद और माधुर्य गुण विद्यमान है। समास न होने से सुकुमारता सर्वत्र परिलक्षित हो रही है।

पांचाली रीति—माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त तथा अश्लिष्ट और शिथिल पद रचना पांचाली रीति है—‘**माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली**’ (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.13)

इसकी विशेषता बताते हुए कवि कहते हैं—

अश्लिष्टाश्लथभावां तां पूरणछाययाऽऽश्रिताम् ।

मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदुः ॥

(वामन, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.13)

अर्थात् क्लिष्ट तथा अधिक समासों से रहित, कान्ति से युक्त, मधुर तथा सुकुमार रीति को कविजन पांचाली रीति कहते हैं।

उदाहरण—

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पन्थाऽधुना दीयते,

रात्रवत्र विहारमण्डप तले पान्थः प्रसुप्तो युवा ।

तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतम्,

येनाऽद्यापि करकदण्डपतनाशंकी जनस्तिष्ठति ॥ (अमरुशतकम्)

किसी गाँव में भद्रवेदी पर रात में सोने के लिये आये पथिक से कोई ग्रामीण वृद्धा कहती है—हे पथिक! इस गाँव में पथिक को रात में विश्राम के लिये निवास स्थान अब नहीं दिया जाता। बात यह है कि बहुत पहले यहाँ एक पथिक आया था। उसे एक विहारमण्डप में सोने के लिये स्थान दे दिया गया, किन्तु रात में बादल गरजने पर वह राहगीर उठ बैठा और अपनी प्रियतमा का स्मरण करके वहीं मर गया। तबसे यहाँ के लोग किसी की मृत्यु के पाप के भय से ग्रस्त होकर रहते हैं। इसलिये वे किसी को रात में निवासस्थान नहीं देते हैं।

उपर्युक्त श्लोक में मधुरता और सुकुमारता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है। कहीं भी समास युक्त पद नहीं है। केवल एक स्थान पर ‘**करकदण्डपतनाशकी**’ समस्त समास है। इस प्रकार की रीति पाञ्चाली रीति कहलाती है। उपर्युक्त तीनों रीतियों में आचार्य वामन प्रथम रीति वैदर्भी को अधिक महत्व प्रदान करते हैं क्योंकि उसमें अनेक गुण विद्यमान हैं। शेष दोनों में भी गुण है किन्तु अल्पमात्र में है इसलिये वे ग्राह्य नहीं है। यही बात आचार्य कह रहे हैं—

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् । 1.2.13

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । 1.2.15

वैदर्भी रीति पर आचार्य वामन की इतनी अधिक आस्था है कि वे गौड़ी और पाञ्चाली का पूर्वाभ्यास भी स्वीकार नहीं करते अर्थात् प्रश्न उठता है कि पहले गौड़ी और पाञ्चाली का अभ्यास किया जाये और जब अभ्यास दृढ़ हो जाये तो उसका उपयोग वैदर्भी के लिये किया जाये तो क्या हानि है? इसका उत्तर आचार्य वामन देते हैं कि रेशमी धागे के लिये सन के बान बुनने का अभ्यास नहीं किया जाता। इसलिये गौड़ी और पाञ्चाली का अभ्यास वैदर्भी के लिये उपयोगी नहीं अपितु हानिकारक है। सीधे

वैदर्भी का ही अभ्यास कवि को करना चाहिये।

लाटी रीति—

यहाँ कुछ आचार्य लाटी को भी एक पृथक् रीति कहते हैं। लाट देश के निवासियों को प्रिय होने के कारण यह रीति लाटी कहलाती है। प्राचीन समय में गुजरात के एक विशेष भाग का नाम लाट था। आचार्य वामन ने लाटी की चर्चा नहीं की। किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने लाटी को भी एक स्वतन्त्र रीति स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वैदर्भी और पांचाली रीति के मध्य की रीति लाटी रीति है—**‘लाटी तु रीतिवैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता’ (साहित्यदर्पण 9.5)** यह मध्यम समास युक्त होती है तथा उग्र रसों के वर्णन में प्रायः इसका प्रयोग होता है।

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।।

अर्थात् जिसके पास प्रियतमा पत्नी नहीं होती, उसके लिये चन्द्रमा भी सूर्य होता है और जिसके पास पत्नी होती है उसके लिये सूर्य भी चन्द्रमा के समान प्रतीत होता है।

वामन के पश्चात् ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने रीति सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया किन्तु उन्होंने ‘रीति’ पद के स्थान ‘संघटना’ पद का प्रयोग किया। संघटना की परिभाषा देते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि यथोचित पद रचना ही संघटना अथवा रीति है। तत्प्रणीत यह रीति रसाश्रयी थी, जबकि वामन की रीति स्वयं में एक स्वतन्त्र अवधारणा है। उनके अनुसार संघटना तीन प्रकार की होती है—असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।

तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।।

(आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक 3.61)

इसी सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने कहा है कि माधुर्य आदि गुणों के कारण संघटना उपस्थित रस के अभिव्यक्तिकरण में समर्थ होती है—

गुणानाश्रित्यतिष्ठनी माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।

रसान्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।।

(आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक 3.62)

आनन्दवर्धन कृत संघटना विवेचन का इस प्रकार है—

- संघटना का मूल—आधार समास है।
- यह संघटना गुणाश्रयी होती है।
- रसाभिव्यक्ति का माध्यम रीति ही है।

आनन्दवर्धन के पश्चात् राजशेखर ने रीति का सविस्तार विवेचन करते हुए कहा है—**वचनविन्यासक्रमो रीतिः। (राजशेखर काव्यमीमांसा पृ. 21)** अर्थात् वचनविन्यासक्रम ही रीति है। राजशेखर की यह रीति परिभाषा वामन की रीति परिभाषा

से मिलती—जुलती है, केवलमात्र शब्दावली का अन्तर है। जैसे राजशेखर द्वारा प्रयुक्त वचन का आशय वामन के शब्द अथवा पद विन्यास से है और विन्यास क्रम से तात्पर्य अर्थ रचना से है।

आचार्य विश्वनाथ ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है—पदों की संघटना को रीति कहते हैं। रीति शरीर रचना के समान होती है तथा रस भावादि रूप आत्मा का उत्कर्ष करती है—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्।।

(आचार्य विश्वनाथ—साहित्यदर्पण)

इस प्रकार आचार्य वामन ने गुणों को काव्यशोभा का उत्पादक और अलंकारों को केवल उस शोभा का अभिवर्धक माना है। इस प्रकार इन्होंने गुणों की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले 'रीतिसम्प्रदाय' की स्थापना की। उन्होंने शब्द के दस और अर्थ के दस गुण माने हैं। रीति में गुणों की स्थिति को इन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'समग्रगुणा वैदर्भी, ओजःकान्तिमती गौडीया, माधुर्यसौकुमार्योत्पन्ना पाञ्चाली।'

14.4 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक ध्वनि तत्त्व

कालक्रम से विक्रोचित सम्प्रदाय के बाद ध्वनि सम्प्रदाय का उदय हुआ। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय का उदय युगान्तरकारी है। इस ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय आनन्दवर्धन को ही दिया गया है तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य ध्वनि तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ थे। किन्तु आनन्दवर्धन ही ऐसे आद्याचार्य हैं, जिन्होंने ध्वनि को लक्ष्यकर नाट्य और काव्य को एकीकृत करने का अथक प्रयास किया है यही कारण है कि उन्हें साहित्य जगत में महती प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तत्त्वतः ध्वनि सिद्धान्त के सत्ता में आने से पूर्व अलंकार सिद्धान्त, रस सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त स्थायित्व प्राप्त कर चुके थे। किन्तु ध्वन्याचार्य ने इन सिद्धान्तों को अंगरूप में प्रतिपादित कर ध्वनि को काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित किया। वस्तुतः ध्वनि का मूल स्रोत वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त में सुरक्षित है तथा उसका स्फुटित रूप भारतीय दर्शनों में विवेचित व्यंजना व्यापार में द्रष्टव्य है। केवल मात्र शास्त्रीय ग्रंथों में ही नहीं अपितु रामायण, महाभारत एवं कालिदास की रचनाओं में ध्वनि दृष्टान्त प्रभुत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। महाभारत का प्रसिद्ध गृध्रगोमायु संवाद प्रबन्ध ध्वनि के दृष्टान्त रूप में विभिन्न काव्यांगों द्वारा उद्धृत किया गया है। ध्वनिकार का कथन है कि नाट्यशास्त्र में मुनि भरत ने रसादि योजना को लक्ष्य कर काव्य निबन्धन प्रस्तुत किया—एतच्च रसादितात्पर्येण काव्य निबन्धन भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 3.37 की वृत्ति)

वास्तव में वह रस ध्वनि ही है जो काव्य रूप शरीर में आत्मरूप है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि रीतिवादी आचार्यों को भी इस ध्वनि रूप आत्मा का अंशतः आभास अवश्यमेव था किन्तु उन्होंने इसकी व्याख्या करने स्वयं को असमर्थ देखते हुए रीति सिद्धान्त को प्रवर्तित कर दिया—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।

अशक्नुवद्भिभव्यकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिता।।

(ध्वन्यालोक 3.47 की वृत्ति)

ध्वनि के आधारभूत तत्त्व प्रतीयमान अर्थ से अलंकारवादी आचार्य परिचित थे। भामह आदि काव्यज्ञों ने अलंकारों को काव्यशोभाधायक तत्त्व मानते हुए पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अनेक अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया। यही कारण है कि उन्होंने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया। परन्तु इस कार्य में वे सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से भी पूर्व भी ध्वनि तत्त्व को वर्णित किया गया है। किन्तु ध्वनि सिद्धांत की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को नहीं दिया जा सकता है। उनके द्वारा स्थापित इस सिद्धांत को अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों द्वारा प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ।

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है—

- ध्वनति इति ध्वनिः ।
- ध्वन्यते इति ध्वनिः ।
- ध्वननं ध्वनिः ।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ध्वनि कहलाते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है। तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंजना व्यापार ध्वनि है। ये चारों प्रकार की ध्वनियाँ क्योंकि काव्य में रहती हैं, अतः काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने इन पाँचों को ही ध्वनि कहा है—वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। (ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति) इन पाँचों ध्वनियों की व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार की है—

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यंजकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्रयते विभावानुभावसंबलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः न चासावभिधारूपः अपित्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। (ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति की लोचन टीका) अर्थात् कहने का आशय यह है कि वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है, क्योंकि दोनों का व्यंजकत्व ध्वनि व्यापार करना है। विभाव, अनुभाव आदि के संबलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि है, क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। शब्दन शब्द अर्थात् शब्द का व्यापार भी ध्वनि है, क्योंकि उसमें ध्वनि के पूर्वोक्त चारों प्रकार निहित रहते हैं। इस प्रकार शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और काव्य इन पाँचों को ध्वनि की संज्ञा दी गई है।

आचार्य विश्वेश्वर ने इन पाँचों में ध्वनित्व का प्रदर्शन इस प्रकार किया है—

- ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।
- ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।
- ध्वन्यते इति ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित किया जावे, वह व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है।

इसमें रस, अलंकार और व्यङ्ग्य ये तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ आ जाते हैं।

- ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः अर्थात् जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है, वह ध्वनि है। इससे शब्द—अर्थ के व्यापार शक्ति का बोध होता है।
- ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः अर्थात् जिसमें वस्तु, अलंकार, रस आदि ध्वनियाँ विद्यमान रहती हैं, वह काव्य ध्वनि है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार की है—

‘यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।’

(ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत 1.13)

अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ अपने अर्थ को गुणीभूत करके व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह ध्वनि काव्य है। सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय ही सबसे सशक्त और महत्वपूर्ण है। ध्वनिवादी आचार्य अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति आदि पूर्व वर्णित काव्य के तत्त्वों का सामञ्जस्य ध्वनि के साथ कर देते हैं। आनन्दवर्धन से पहले भी ध्वनिवाद की उद्भावना हो चुकी थी, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।

ध्वनिकार से पहले ध्वनि का विरोध भी होता रहा था। आनन्दवर्धन ने तीन ध्वनि—विरोधियों का उल्लेख किया है—

- अभाववादी, जो ध्वनि का अभाव मानते रहे हैं।
- भुक्तिवादी, जो ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करते रहे हैं।
- अनिर्वचनीयतावादी, जो ध्वनि का अनुभव करते हुए भी उसकी व्याख्या असम्भव मानते रहे हैं।

ध्वनि के विरोध में वैयाकरण, वेदान्ती, मीमांसकों और नैयायिकों सभी ने आवाज उठाई किन्तु मम्मट ने इन सबका खण्डन कर ध्वनि की पुनः स्थापना की। अतः उन्हें ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन हैं तो अभिनव गुप्त पोषक हैं और आचार्य मम्मट प्राणाधान करने वाले हैं।

अनेक आचार्यों ने ‘व्यंजना’ का भी निषेध किया। भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व व्यापार द्वारा चारु अर्थ का भाव तथा रस का आस्वादन माना। धनञ्जय और धनिक ने व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ के अन्तर्गत माना है। वक्रोक्तिकार कुन्तक और व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि की स्थापना का प्रबल विरोध किया। कुन्तक ने ध्वनि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में और महिमभट्ट ने अनुमान में किया और व्यंग्यार्थ को अनुमेय बतलाया। आचार्य मम्मट ने समस्त विरोधों का खण्डन कर सुचारु रूप से व्यंजना की स्थापना की और व्यंजनाविवाद साहित्य में अमर हो गया।

ध्वनि को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि वाच्यार्थ की अपेक्षा जो अन्य अर्थ हृदयाह्लाद कारक हो वही ध्वनि है—‘इदमुत्तमतिशयिनि व्यंग्ये वाच्यात् ध्वनिर्बुधैर्कथितः।’ इस प्रकार अर्थ प्रधानतः दो प्रकार का होता है— 1. वाच्य 2. प्रतीयमान। अलंकार आदि का ग्रहण वाच्य अर्थ को विलक्षण मानते हैं जो रमणियों के

लावण्य आदि के समान महाकवियों की वाणी में भासित होता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत् तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

(ध्वन्यालोक, 1/4)

ध्वनि सिद्धान्त रससिद्धान्त का पोषक है। ध्वनिकार ने 'काव्यास्यात्मा ध्वनिः' कहा है, किन्तु इसके माध्यम से रसरूप काव्यात्मा में ही उनका तात्पर्य है जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट कहा है—'तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।' ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन की अपनी उपलब्धि है, जिसे अभिनवगुप्त ने पुष्ट किया और मम्मट ने उसमें प्राणाधान कर उसकी सुदृढ़ पुनर्स्थापना की।

यद्यपि पारमार्थिक रूप से ध्वनि एक ही है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से आचार्यों ने ध्वनिकाव्य के अनेक भेद कर दिये हैं। ध्वनिकाव्य के प्रारम्भिक भेद दो हैं—अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला) और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला)। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्य अर्थ बाधित तो नहीं होता, परन्तु वह व्यंग्यपरक रहता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में वाच्य और व्यंग्य अर्थों के क्रम का बोध नहीं होता। यह रस, भाव आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती है। इसके अनन्त भेद हो सकते हैं, जिससे इसको एक ही मान लिया गया है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद कहे गये हैं—अलंकाररूप और वस्तुरूप। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के 12 भेद हैं। इसको पहले तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। इनमें से प्रत्येक के क्रमशः दो दो भेद—वस्तुरूप व्यंजक अर्थ और अलंकार रूप व्यंजक अर्थ होते हैं। इस प्रकार इसके छः भेद हो जाते हैं। अब इनमें से प्रत्येक भेद के पुनः दो दो भेद होते हैं—वस्तुरूपव्यंग्य अर्थ और अलंकाररूपव्यंग्य अर्थ। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि 12 प्रकार की हो जाती है। उभयशक्त्युद्भव ध्वनि एक ही प्रकार की होती है। मम्मट ने ध्वनि के 18 मुख्य भेद 'काव्यप्रकाश' में प्रदर्शित किये हैं, जो कि निम्न प्रकार से हैं—

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेद	—	2
असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद	—	1
शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	—	2
अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	—	12
उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	—	1

योग 18

को पल्लवित किया गया। उन्होंने सिद्ध किया कि रससिद्धि व्यंजना व्यापार द्वारा संभव है। ध्वनिकार ने ध्वनि के तीन रूपों वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि, रसध्वनि के प्रतिष्ठा की थी, किन्तु अभिनवगुप्त ने रसध्वनि को सर्वाधिक महत्ता प्रदान करते हुए कहा है कि रस का अभाव होने पर काव्य, काव्य अभिधा से अभिहित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार अभिनव गुप्त रसात्मक सौन्दर्य से समन्वित ध्वनि को ही काव्य कहने के पक्ष में है न कि केवल ध्वनि को। आचार्य मम्मट के अनन्तर पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि सिद्धांत के प्रति आस्था भाव रखते हुए उसका अन्धानुकरण नहीं किया। उनका काव्यगत श्रेणी विभाजन ध्वनि सिद्धांत पर ही आधारित है उन्होंने मम्मट प्रणीत त्रिविध काव्यभेदों के स्थान पर काव्य की चार श्रेणियाँ निर्धारित की—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि के दो प्रकार माने हैं—अभिधामूलक और लक्षणामूलक। प्रथम के तीन प्रकार हैं—रस, वस्तु एवं अलंकार ध्वनि तथा द्वितीय के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं अत्यंत तिरस्कृत वाच्य उनके शब्दों में रसादि ध्वनि असंलक्ष्य क्रम ध्वनि नहीं अपितु संलक्ष्यक्रम है फिर भी वे आनन्दवर्धन की मान्यताओं से वे प्रभावित अवश्यमेव है—**शब्दार्थो यत्र गुणीभावितात्मानौ कम्प्यर्थमभिव्यङ्क्त तदाधमम्। (जगन्नाथ रसगंगाधर 1.2)**

बोध/अभ्यास प्रश्न

बोध प्रश्न-1

- क) निम्नलिखित प्रश्नों के ठीक उत्तरों पर सही (✓) का चिन्ह लगाइयें
- अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक कौन है? (भरत/भामह)
 - भामह की रचना क्या है? (काव्यालंकार/काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)
 - अलंकार सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य नहीं है? (भामह/मम्मट)
 - रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य है? (आचार्य वामन/आचार्य मम्मट)
- ख) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
- ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक है। (आनन्दवर्धन/भामह)
 - आनन्दवर्धन की रचना हैं। (ध्वन्यालोक/काव्यालंकार)
 - ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य..... हैं। (भरत/अभिनवगुप्त)
 - वामन के अनुसार रीतियाँ प्रकार की है। (3/4)

बोध प्रश्न-2

- क) रीति तत्व को स्पष्ट कीजिए।
-
-

- ख) अलंकार तत्व को स्पष्ट कीजिए।
-
-

अभ्यास प्रश्न

ध्वनि तत्व पर निबन्ध लिखिए।

14.5 सारांश

इस खण्ड-3 के इकाई 14 में ये साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व अलंकार तत्त्व का प्रथमतः विवेचन किया। अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं और चमत्कार का आधान करते हैं। इस सौन्दर्य या चमत्कार या चमत्कार के होने पर ही काव्य में काव्यत्व होता है। यदि काव्य में सौन्दर्य नहीं है, तो वह काव्य नहीं है। अलंकार का प्राण चमत्कार है, जो अलंकार जितना अधिक चमत्कार उत्पन्न कर सकता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। इसके पश्चात् साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व रीति का विवेचन किया गया है। काव्य के विशेष मार्ग या पद्धतियाँ ही रीति कहलाती हैं और विदर्भ आदि प्रदेश विशेष में प्रयुक्त होने के कारण उन्हीं प्रदेशों के नाम पर प्रसिद्ध हो गईं। रीतिवाद में पद रचना को ही काव्य सर्वस्व माना गया है। काव्य का मूल गुण रमणीयता है। उसकी चरम सिद्धि है—सहृदय का मनः प्रसादन और परिणाम चेतना का परिष्कार है। इस प्रकार वामन के विशिष्ट पद रचना ही रीति की सर्वमान्य परिभाषा रही है जो शब्दगुण और अर्थगुण पर आश्रित है। शब्दगुणों और अर्थगुणों में किसी न किसी प्रकार की विचित्रता विद्यमान रहती है और यह विचित्रता ही रचना में चमत्कार उत्पन्न करती है। वामन के बाद रुद्रट ने वैदर्भी, गौड़ीया, पांचाली और लाटी ये चार रीति मानी हैं। भोजराज के अनुसार रीति का अर्थ 'कवि गमन मार्ग' है। उन्होंने छः रीतियाँ वैदर्भी, पांचाली, गौड़ीया, आवन्तिका, लाटी और मागधी मानी हैं। मम्मट ने रीति की उपयोगिता तो स्वीकार की है किन्तु उसे काव्य की आत्मा नहीं माना। उनकी दृष्टि में 'रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्' अर्थात् रीति अवयव के समान हैं जो उपयोगी और शोभाजनक भी है किन्तु काव्य की आत्मा नहीं है। इस प्रकार इसके पश्चात् साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व ध्वनि का विवेचन किया गया है। ध्वनि एवं ध्वनि का सम्पूर्ण विवेचन सौन्दर्य या चमत्कृति की ही उपपत्ति का प्रयास है, जिसका सम्बन्ध एक ओर सहृदय—हृदय से आह्लादकत्व को लेकर दूसरी ओर प्रतिभाजन्यता को लेकर कवि से और आत्मैकिकता को लेकर काव्य के समस्त उपकरणों से है। इसके बिना न कवि में कवित्व है और न काव्य में काव्यत्व स्थिति संभव है।

14.6 शब्दावली

आधायक	—	विशेष रूप से धारण करने वाला
उपकरण	—	साधन
अलंकार	—	शोभा को बढ़ाने वाला
रीति	—	काव्य के विशेष मार्ग या रीति पद्धति
ध्वनि	—	शब्द का व्यापार
वनिता	—	स्त्री

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अभिनवभारती के तीन अध्याय, अभिनवगुप्त, सम्पा. नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दि.वि. दिल्ली प्र.स. 1960

- औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र व्याख्या. ब्रजमोहन झा ,चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982
- काव्यप्रकाश मम्मट, सम्पा. एवं व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
- काव्यादर्श, दण्डी, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. क्षेमेन्द्रकुमार गुप्त, मेहर चन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली,1973
- काव्यालंकार भामह, सम्पा. एवं व्याख्या देवेन्द्रनाथ शर्मा, विहार राष्ट्र भाषा-परिषद् पटना, 1985
- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. वेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,
- काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, सम्पा. एवं व्याख्या डा. रामानन्द शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2000
- ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, विश्वेश्वरकविचन्द्र सिद्धान्त शिरोमणि ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी, 1998
- नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, बटुक नाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय चौ.सं.संस्थान, वाराणसी, 1980
- अभिज्ञानशाकुन्तलम् एक अध्ययन , काशीनाथ द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- ध्वन्यालोक लोचन अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक की टीका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1911
- वक्रोक्तिजीवितम्, कुन्तक, राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2007
- व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, रेवाप्रसाद द्विवेदी ,चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1987
- सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, कामेश्वर नाथ मिश्र चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी 1979
- साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, व्याख्याकार डा. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1976
- भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 1, 2 बलदेव उपाध्याय, भा. व. उ. प्रसाद परिषद् काशी वि. सं. 2007
- भारतीय सौन्दर्यदर्शन, ब्रजमोहन चतुर्वेदी, मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, मध्यप्रदेश, 1998
- संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, अष्टम खण्ड काव्यशास्त्र, उ.प्र.सं.सं.लखनऊ,
- कालिदास ग्रन्थावली, सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1960
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कपिलदेव द्विवेदी, साहित्य संस्थान, इलाहाबाद

ENGLISH REFERENCE

- (1) B.M.Chatturvedi, **Some unexplored Aspects of the Rasa Theory**, vidyanidhi Prakashan, ed.1906
- (2) S.K De, **History of Sanskrit Poetics...**, Firma KLM PVT Ltd. Calcutta, 1976.
- (3) Raniero Gnoli, **The Aesthetic experience according to Abhinavagupta**; chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1968
- (4) P.V Kane, **History of Sanskrit Poetics**, MLBD, Delhi, f.ed. 1961
- (5) A.B Keith, **History of Sanskrit literature**, oxford, 1928
- (6) V.Raghvan, **The Number of Rasas**, University of Madras, 1949, Adyar Library Adyar, 1940
- (7) V.Raghvan, **Some Concepts of Alankar Shastras**, Adyar Library, Adyar, 1942

14.8 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- क) (i) भामह (ii) काव्यालंकार (iii) मम्मट (iv) वामन
 ख) (i) आनन्दवर्धन (ii) ध्वन्यालोक (iii) अभिनवगुप्त (iv) 3

बोध प्रश्न-2

क) रीति शब्द 'री' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ मार्ग, शैली, विधा है। प्रकारान्तर से इसे पन्थ, वीथी, प्रणाली पद्धति भी कहा गया है। रीति की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य भोज ने कहा है कि वैदर्भी आदि मार्ग काव्य मार्ग कहे गये हैं। रीति शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्गतौ' (चलना) गत्यर्थक 'रीङ्' धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है—'रीङ्वतीविति धातौ सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते' (भोज सरस्वती कण्ठाभरण 3.51)

साहित्यिक क्षेत्र में रीति का आशय कवि अथवा लेखक की विशिष्ट लेखन शैली में होता है। 'रीति' को पारिभाषिक रूप देने का श्रेय आचार्य वामन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को नहीं दिया जा सकता। पदों की विशिष्ट संघटना ही रीति होती है। इस प्रकार वामन के शब्दों में रीति ही काव्य की आत्मा है—

रीतिरात्मा काव्यस्य। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.6)

विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.7)

विशेषो गुणात्मा। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.8)

यहाँ पर विशिष्ट से उनका तात्पर्य गुणयुक्तता से था, जो गुण शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म है—**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.1)**

वामन कृत उक्त परिभाषा में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगत होते हैं—प्रथम, विशिष्ट पद रचना ही रीति है तथा द्वितीय यह कि वह शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऐसी विशिष्ट पद रचना, जिसमें शब्द और अर्थगत चमत्कार सन्निवेश हो, 'रीति' कहलाती है। उनका रीति—विभाजन प्रादेशिक सीमाओं पर अवलम्बित न होकर गुणो पर आश्रित था। उन्होंने तीन रीतियों वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली का विवेचन किया।

ख) भारतीय काव्य शास्त्र में आचार्यों की ऐसी परम्परा विद्यमान है, जो अलंकारों को काव्य—सौन्दर्य का मूल हेतु स्वीकार करते हुए उसे ही काव्य सर्वस्व उद्घोषित करती है। अलंकार सम्प्रदाय का स्थान रस सम्प्रदाय के बाद आता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई आलंकारिकों का उल्लेख किया है—'आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमकं यमः, चित्रं चित्रङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, औपम्यौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुत्थः, उभयालंकारिकं कुबेरः।' (काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय शास्त्र संग्रह का प्रथम परिच्छेद) किन्तु इनमें से किसी की भी कृति उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ही हैं जिनकी कृति उपलब्ध है। अतः भामह को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। भामह ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना है। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य में प्रधान है—'तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।' (अलंकार सर्वस्व पृष्ठ 307) रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' अलंकारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें 65 अर्थालंकारों और तीन शब्दालंकारों का वर्णन है। 'अलम्' पूर्वक 'कृ' धातु के योग से 'करण' या 'भाव' अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इनमें 'अलम्' एक अव्यय शब्द है, जिसका अर्थ योग्य या पर्याप्त है। इस प्रकार अलंकार शब्द से तात्पर्य ऐसे तत्त्व से था, जो पर्याप्त अथवा योग्य बना दे। प्रकारान्तर से 'अलङ्करोति इति अलंकारः' तथा 'अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कारः' अतः अलंकार ऐसा तत्त्व है, जो चमत्कार अथवा सौन्दर्य को परिपूर्णता तक पहुँचाते है। आचार्य भामह ने काव्य में अलंकारों को अंगी रूप में स्वीकार करके रस आदि को उसके अंग रूप में प्रतिपादित किया। भामह के शब्दों में—'न कान्तमपि निर्भूषं विभातिवनितामुखम्' अर्थात् जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुये भी भूषण के बिना शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार सुन्दर सरस काव्य की शोभा भी अलंकारों से होती है। अतः भामह ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट किया तथा उसको काव्य का प्राणतत्त्व माना। उन्होंने कहा है कि शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। (काव्यालंकार 1.30)

वाचां वकार्थं शब्दोक्तिरलंकारायकल्पतेः।। (काव्यालंकार 5.60)

उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाय कि हे रावण! तुम सीता को लौटा दो अन्यथा राम तुम्हारा वध कर देंगे तो यह वाक्य काव्य नहीं कहलायेगा। यदि इसे इस प्रकार कहा जाय—

न स संकुचितः पन्था येन बलि हतो गतः।

समये तिष्ठ लंकेश मा बालिपथमन्वगाः।।

अर्थात् हे रावण! जिस मार्ग से बाली मर कर गया है वह मार्ग संकुचित नहीं है। इसलिये समय रहते सम्भल जा। बाली के मार्ग का अनुसरण न कर।" इस कथन

सौंदर्य तत्व

में एक चमत्कार आ गया है। अतः यह उत्तम काव्य कहलाता है। इस प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए कहा कि वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार सत्ता कदापि सम्भव नहीं—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना।। (काव्यालंकार 2.85)

अभ्यास प्रश्न—

इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY